देवपरिचय

द्युस्थान देवता - (आकाश)

वरुण - वरुण का स्वरूप ईरान के 'अहुरमज्द' और ग्रीक के 'आरनोस' के समान है। वरुण को विश्व का नियन्त्रण करने वाला देवता समझा जाता है। वैदिक मंत्रों में बताया गया है - सूर्य उसके नेत्र हैं, वायु श्वास है, आकाश वस्त्र है। उनकी आज्ञा से ही नदियाँ बहती हैं, सूर्य चमकता है तथा चन्द्रमा अपनी परिधि में विद्यमान रहता है। वरुण ऋतुओं के स्वामी माने जाते हैं। वे ही सभी ऋतुओं का माह का और दिन और रात्रि का विधान करते हैं। वे पक्षियों का आकाश मार्ग तथा नौकाओं का समुद्र मार्ग भी जानते हैं। वे हजार खम्भों वाले विशाल भवन में निवास करते हैं। वे क्षत्र (प्रभुता) से सम्पन्न हैं अतः इन्हें क्षत्रिय भी कहा गया है। इन्हें असुर माना गया है। ये ऋत के नियंता भी हैं। देवता मित्र वरुण के सहचर माने जाते हैं। वरुण आकाश में निवास कर भी धरती के जीवों के स्वामी माने जाते हैं। ये सभी जीवों के कर्म द्रष्टा तथा कर्माध्यक्ष समझे जाते हैं। ये पापियों को दण्ड देते हैं, परन्तु पाप के लिए क्षमा-याचना करने वालों के लिए दया के प्रतीक हैं। वरुण के स्वरूप से पता चलता है कि वैदिक ऋषि पाप तथा पाप से मुक्ति की सिद्धांत से सुपरिचित थे।

ऋत प्राकृतिक एवं नैतिक व्यवस्था का प्रतीक है।

ऋत का सिद्धांत - ऋत का शाब्दिक अर्थ है विश्व के घटनाओं का गति-क्रम। इसका मूल अर्थ - प्रकृति की एकरूपता जैसे - सूर्य, तारे, पृथ्वी, आकाश, वायु, नदियाँ तथा दिन-रात, विभिन्न ऋतुओं का अपने का नियमित-क्रम गतिमान होना तथा एक निश्चित क्रम। ऋत के कारण ही विश्व की समस्त गति, व्यवस्था और परिवर्तन के मूल में अपरिवर्तनीय और अचल ऋत-नियम है। यह एक ऐसा नियम है जिसकी अवहेलना देवता तक नहीं कर सकते। पहले यह प्राकृतिक नियम था धीरे-धीरे नैतिक व्यवस्था का भी प्रतीक बन गया और आगे चलकर कर्म नियम प्रतीक हो गया। इस रूप में ऋत वह नियम है जो पूरे विश्व में व्याप्त है जिसका देवता तथा सभी मनुष्य को पालन करना अनिवार्य है। इस प्रकार ऋत सर्वप्रथम प्राकृतिक एकरूपता का सिद्धांत है। ऋत विश्व के मूल में एक अपरिवर्तनीय सत्ता है। ऋत सदाचार का नैतिक नियम है और अंत में कर्म-सिद्धांत का पूर्वानुमान है। ऋत के नियम पालन को वेद में 'व्रत' कहा गया है। इसलिए ऋत के अनुसार विश्व-व्यवस्था एक नैतिक व्यवस्था है।

प्रेयस (लौकिक) समृद्धि
श्रेयस (पारलौकिक)

लौकिक तथा पारलौकिक

त्रि ऋण – आर्य प्रजा के यज्ञ प्रेयस तथा श्रेयस की प्राप्ति के लिए की जाती थी किन्तु आर्य प्रजा के तीन ऋणों से उऋण होने की इच्छा भी वैदिक समाज में प्रचलित था –

1) देव ऋण – देवों के प्रति कर्तव्य की पूर्ति यज्ञ के सम्पादन से होती है इसलिए देवता के प्रति अपने

कर्तव्यों को पूरा करने के लिए वे देव-ऋण - यज्ञ विभिन्न प्रकार के यज्ञ करके देव ऋण को पूरा करते थे।

2) ऋषि ऋण - ऋषि ऋण का तात्पर्य है कि प्राचीन पुरुषों के प्रति सांस्कृतिक दाय के लिए ऋण है, जिसे हम स्वाध्याय के द्वारा उस परम्परा को ग्रहण कर, उसे आगे की पीढ़ी तक पहुँचाकर उऋण हो सकते

3) पितृ ऋण - पितृ ऋण से उऋण होने के लिए संतति के सूत्र को आगे बढ़ाकर प्राप्त किया जा सकता है।

इसी प्रकार वैदिक काल में अतिथि सत्कार तथा सभी जीवों के प्रति परोपकार तथा मनुष्यों के प्रति दान के महत्व की भी चर्चा है।

Objective

* ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त में - प्रकृति रूपी उपादान कारण से सृष्टि का निर्माण करने वाला वर्णित है।
* ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में दैवीय आध्यात्मिक ज्ञान का अतिक्रमण कर उच्चतर अद्वैतवाद को स्वीकार किया गया है।

* वेद में तीन प्रकार के ऋण की चर्चा है-

1) देव ऋण - देवों के प्रति कर्तव्य की पूर्ति यज्ञ के सम्पादन से होती है।
2) ऋषि ऋण - वेदों के अध्ययन तथा उस ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाकर
3) पितृ ऋण - विवाहोपरांत संतान उत्पत्ति कर इस ऋण से उऋण हुआ जा सकता।
4) मनुष्य ऋण - मनुष्यों के प्रति जो हमारे कर्तव्य जिसे अतिथि सत्कार द्वारा चुकाया जा सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता - निष्काम कर्मयोग

1 गीता में आत्मलाभ के साधन के रूप में कर्मयोग का भी साधन प्रतिपादित है। आधुनिक युग में लोक मान्य तिलक, महात्मा गांधी और श्रीमति एनी बेसेंट आदि विचारकों ने कर्मयोग विशेषतः निष्काम-कर्मयोग को ही गीता की मुख्य शिक्षा स्वीकार किया है।

कर्मयोग शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है - कर्म और योग। गीता में कर्म शब्द वर्णगत कर्म (सामाजिक कर्तव्य) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। योग शब्द का अर्थ है "जोड़ना" या लगाना। इस प्रकार कर्मयोग का अर्थ हुआ - " निष्ठापूर्वक अपने सामाजिक कर्तव्यों का पालन करना। वास्तव में गीता कर्मयोग के प्रसंग में प्रत्येक व्यक्ति से यह आग्रह करती है कि वह अपने वर्णगत कर्तव्यों का, उन सामाजिक कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करे जो समाज में व्यवस्था लाने के लिए तथा एकता को बनाए रखने के लिए आवश्यक है।

गीता स्थान स्थान पर यह स्वीकार करती है कि कोई भी मनुष्य क्षण मात्र के लिए भी कर्म का परित्याग नहीं कर सकता। यदि कोई व्यक्ति कर्मों का परित्याग भी करना चाहे तो उसके लिए ऐसा संभव नहीं है, क्योंकि उसका शरीर और इंद्रियां सदैव बिना न रुके कर्म में लगी रहती है। यह सम्पूर्ण लोक कर्म से बंधा है और प्रकृति के सत्व, रजस, एवं तमस सब प्राणियों को विवश करके कर्म कराते हैं। यह अकर्म को वैसे ही निषिद्ध समझती है जैसे. दुष्कर्म को। गीता के अनुसार स्वधर्म

2 यद्यपि संन्यास (कर्मत्याग) और कर्मयोग दोनों श्रेयस्कर हैं, तथापि कर्मयोग कर्मसंन्यास से श्रेष्ठ है। गीता पूर्णता की अवस्था में भी कर्म सम्पादन की आवश्यकता मानती है। इस संबंध में कृष्ण स्वयं अपना का उदाहरण देती है।

गीता का कर्मयोग निष्काम कर्मयोग है। निष्काम कर्मयोग का अर्थ है कि हम कर्म को कर्तव्य भावना के रूप में देखें, उसे कर्मों को साधन के रूप में न ग्रहण करें। हम कर्म तो करें, किन्तु कर्मफल में आसक्ति न रखें। गीता के विचार में दो दृष्टियों से कर्म किए जाते हैं - सकाम भाव से (फलाकांक्षा के विचार से) और निष्काम भाव से (फलाकांक्षा के विचार का परित्याग करके)। गीता के अनुसार जो कर्म फलाकांक्षा की भावना का त्याग करके किये जाते हैं वे कल्याणकारी होते हुए भी मोक्षप्रदायक है।

गीता सकाम भाव से किये जाने वाले कर्मों के दुष्परिणामों को भी रेखांकित करती है। इसके अनुसार सकाम होकर कर्म करने से कर्म में आसक्ति उत्पन्न होती है। आसक्ति से आकांक्षा जन्म लेती है। आकांक्षा से क्रोध और क्रोध से मोह उत्पन्न होता है। मोह से स्मृतिनाश होती है। स्मृति नाश से बुद्धि नष्ट होती है और बुद्धि नष्ट होने से सब कुछ नष्ट हो जाता है।

इसलिए कृष्ण ने अर्जुन से स्पष्ट कहा है.

अर्जुन - तुम्हारा अधिकार केवल कर्म में है, उसके फल में कदापि नहीं। तू कर्म-फल का हेतु भी न बनो और अकर्म में तुम्हारी आसक्ति भी न हो।